सम्यक्त्व जयंति विशेषांक

वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

March 2025

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

पूज्य बहिनश्रीको ९३वीं सम्यक्त्व जयंती दिन पर कोटि कोटि वंदन

पूज्य भगवती बहिनश्री चंपाबेनकी

निजानंदवेदन सम्बन्धित नोंध

आनंदका दिन

ई.स. १९३३

वांकानेर वि.सं.१९८९

(उम्र १९ वर्ष)

(शामको लगभग ३.३० बजे)

चैत्र (गु. फाल्गुन) कृष्णा १० को सोमवार दोपहर सामायिकमें, निजस्वरूप अनुभवमें आया। अनंतकालसे नहीं समझमें आया स्वरूप, समझमें आया। आनंदसागर उछल रहे थे। वह स्वरूप आश्चर्यकारी व अद्भुत है।

परम उपकारी परम प्रतापी सद्गुरुदेवको नमस्कार।

चैत्र (गुज. फाल्गुन) कृष्णा दसवींके मंगलकारी दिन हुई

स्वानुभूति सम्बन्धी पूज्य बहिनश्रीकी नोंध

चैत्र (गु. फाल्गुन) कृष्णा दसवींका अपूर्व दिन

वांकानेर, सं. १९८९ (वैशाख मासमें लिखा गया)

(ई.स.१९३३; उम्र १९ वर्ष)

स्वस्वरूपका लक्ष्य आते, चैत्र (गुजराती फागुन) कृष्णा दशमी सोमवारको दोपहरमें, ज्ञाताधाराकी वृद्धि होने पर, उस स्वरूपका ध्यान होने पर, उसमें एकाग्र होने पर, उस स्वरूपमें वेग तीव्रतासे आकर उपयोग परलक्ष्यसे छूटकर, अपने स्वस्वरूपमें स्थिर होकर, चैतन्यभगवान उस स्वरूपका अनुभव करते थे। अपने निर्विकल्प सहज स्वरूपमें खेल रहे थे, रमण कर रहे थे। अनुपम और अद्भुत ऐसे आत्मद्रव्यकी महिमा कोई अपार है! चैतन्यदेव आनंदतरंगोंमें डोलते थे।

अहा! अनन्तकालसे छीपे हुए आत्मभगवान प्रकट हुए, उनका छिपा हुआ ऐसा अनुपम अमृतस्वाद वेदनमें आया, अनुभवमें आया।

हे श्री सद्गुरुदेव! वह आपका ही प्रताप है।

अपूर्व आत्मस्वरूप प्रकट हुआ, वह परमकृपाळु सद्गुरुदेवका ही प्रताप है।

भारतखँडमें अपूर्व मुक्तिमार्ग प्रकाशनेवाले परम उपकारी गुरुदेवको नमस्कार!

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५१, अंक-३२७, वर्ष-२७, मार्च-२०२५

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीके श्री 'परमागमसार'में से चुनी हुई 'कहानरत्नकी किरणें'

रागका राग करनेवालेको, पुण्यका राग करनेवालेको, स्त्री-पुत्रादिसे राग करनेवालेको चैतन्यसे प्रेम नहीं - वह चैतन्यका खूनी है। मायाजालका प्रेमी शुद्ध स्वरूपी भगवानका खूनी है। तेरे चैतन्यके खजानेको देखनेसे तुझे यह लगेगा कि तूँ शुभाशुभरूप खाली खजानेमें पड़ा है । भाई! तुझे मनुष्यपना मिला है न? जो तूँ तेरे आत्माको अनुभवे तो मनुष्यपना मिला कहलाए, अन्यथा मनुष्यरूपमें पशु-समान है। ५९

*

भव और भवके भावसे रहित प्रभु हैं, उसके सिवाय और कहीं चैन नहीं पड़े-ऐसी वस्तु है। एक चैतन्यस्वरूप ही चैन पड़ने जैसी वस्तु है, अतः एकका ही अवलम्बन लो। यहाँ ऐसा कहा है कि एकान्त-स्वभावका ही अचल रूपसे अवलम्बन करो-निमित्तका, देव-गुरु-शास्त्रका, रागका या शुद्ध पर्यायका भी अवलम्बन लेनेका नहीं कहा है । ६०

*

शुभशुभके विकल्पोंसे, रागादि भावोंसे अथवा द्रव्योंके भेदरूप विचारसे तुझे क्या लाभ है, ऐसे विकल्पोंका सावधानी पूर्वक प्रतिपालन अर्थात् आचरण व स्मरणसे तुझे क्या कार्य सिद्धि होती है? कोई कार्य सिद्धि नहीं होती। एक ओर भगवान आत्माका अनुभव है व दूसरी ओर भेद-विकल्प

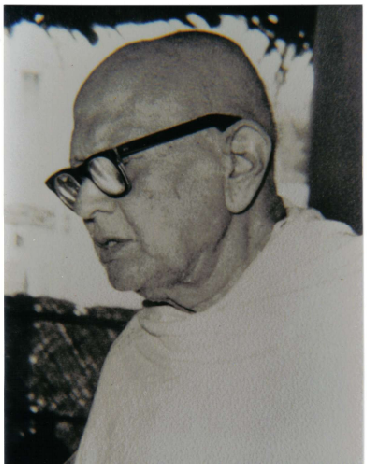

आदि हैं। परन्तु तुझे इस दूसरे पक्षसे क्या प्रयोजन है? जिसे अभेद चैतन्य-स्वभावका अनुभव हुआ उसे दया-दान आदि विकल्पोंसे क्या सिद्धि है? अरे! द्रव्य-गुण-पर्यायके भेद विकल्पोंसे भी क्या प्रयोजन है, उस ओरकी सावधानी छोड़। ६१

*

चैतन्य चमत्कारी तत्वकी सामर्थ्य कितनी! ऐसा अन्तरमें देखे-प्रतीति करे तो धर्मरूपी महलके निर्माणका आधार स्तम्भ खड़ा होता है । विकल्पोंके टूटे बिना ऐसे वस्तु स्वरूपका अन्तरमे स्वीकार नहीं होता। वस्तु है - वह सीमा रहित है। वस्तु अमर्यादित है, अक्षय और अमेय है । ऐसी वस्तुको श्रद्धामें लेनेवाली पर्यायका भी कभी नाश नहीं होता - वह ऐसी अक्षय और अमेय है । भले

ही अचारित्रके परिणाम हो, तो भी इसकी श्रद्धा पर्यायकी ज्ञान पर्यायकी इतनी शक्ति है कि 'राग मुझमें नहीं, परद्रव्य मुझमें नहीं' – ऐसा जान लेती है। ६२

*

अरे! ऐसे चमत्कारी स्वभावकी बात स्वलक्ष पूर्वक ग्रहण करे तो मिथ्यात्व चूर-चूर होकर विलीन हो जाय, ऐसी यह बात। ६३

*

शरीरके एक-एक रोममें ९६-९६ रोग हैं। यह शरीर क्षणमें धोखा देगा, क्षणमें छूट जायगा। थोड़ी भी अनुकूलता हो, वहीं लिप्त हो जाता है। पर भाई तुझे जहाँ जाना है – वहाँ किसका महेमान होगा? कौन तेरा परिचित होगा? इसका विचार करके अपना तो कुछ कर ले। शरीर अच्छा हो तब तक तो आंख खुलती नहीं, और क्षणमें देह छूटते ही अनजानी जगह चला जायेगा छोटी छोटी उमरमें भी चले जाते हैं, इसलिये अपना कुछ तो कर ले। ६४

*

प्रश्न :- चौथे गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि भी भयभीत होता दिखता है और वह उसका उपाय भी करता है न?

उत्तर :- सम्यग्दृष्टि अन्तरमें तो निर्भय ही है, बाह्यमें भयप्रकृतिमें जुडनेसे तनिक अस्थिरतारूप भय दिखता है, तो भी अंतरस्वरूपमें तो निर्भय ही है जिससे वह इहलोक, परलोक आदि सात प्रकारके भयोंसे रहित-निर्भय है। ६५

*

प्रश्न :- वांचन-श्रवण-मनन करने पर भी आत्माका अनुभव क्यों नहीं होता?

उत्तर :- वांचन आदि तो सभी बहिर्मुख है और आत्मवस्तु पूरी अन्तर्मुख है इसलिये इसे अन्तर्मुख होना चाहिये। परको जाननेवाला उपयोग स्थूल है, उसे सूक्ष्म कर अन्तर्मुख करना है। अन्तरकी गहराईमें जाये तो अनुभव हो । 'ज्ञायक ज्ञायक...ज्ञायक...ज्ञायक हूँ, ध्रुव हूँ' ऐसे अन्तरमें संस्कार डाले तो आत्मलक्ष होकर अनुभव होगा ही। ६६

*

प्रश्न :- शास्त्र द्वारा मनसे आत्मा जाना हो उसमें आत्मा जाना गया है या नहीं?

उत्तर :- यह तो शब्दज्ञान हुआ, आत्मा तो नहीं जाना गया। आत्मा तो आत्मासे ही जाना है। शुद्ध उपादानसे उत्पन्न ज्ञानके साथ आनन्द आता है, पर अशुद्ध उपादानसे उत्पन्न ज्ञानके साथ आनन्द नहीं आता और आनन्द आए बिना आत्मा यथार्थतया जाननेमें नहीं आता। ६७

*

प्रश्न :- शुभ-अशुभ भावोंमें व्यवहारमें भेद होने पर भी परमार्थसे भेद माननेवाले घोर संसारमें भटकेंगे – ऐसा शास्त्रमें कहा है, और देव-गुरु जिनवाणी पुण्य बिना नहीं मिलते, तो आगामी भवमें उनके योग हेतु पुण्यकी तो अपेक्षा रहे न?

उत्तर :- पुण्यसे देव-गुरु-वाणीका योग मिलता है, यह यथार्थ। परन्तु पुण्यभाव वर्तमानमें दुःखरूप है, और भावी दुःखका कारण है – ऐसा शास्त्रोंमें कहा है, क्योंकि पुण्यसे जो सामग्री मिलेगी, उसके लक्षसे राग होगा, जो दुःखरूप है। भगवानकी वाणी मिले व उस ओर लक्ष जाये, तो वह राग दुःखरूप है । शुभराग आता है, होता है, परन्तु शुभराग चेतनका धर्म नहीं है। शुभराग दुःखरूप है। आहा! यह बात जगतको कठोर, लगे- ऐसी है । स्वीकार करनेमें कठिन लगे ऐसी है, परन्तु जो सत्य है, वह ऐसा ही है । ६८

*

ज्ञानमें चैतन्यस्वभावकी महत्ता भासित हुए

बिना ज्ञान अन्तरमें नहीं ढल सकता। ज्ञानमें चैतन्यस्वभावकी महिमा व महत्ता भासित हो तब ही ज्ञान अन्तरमें ढलता है। ६९

*

आत्मवस्तु–जिसके ध्रुवदलमें अनन्त शान्ति और अनन्त वीतरागता है – उसका पर्यायमें अनुभव नहीं है अर्थात् अनुभवकी शक्ति जिसने प्रगट नहीं की और जो रागकी रुचिमें पड़े हैं, वे जीव चैतन्यचन्द्र अर्थात् उपशमरससे भरे हुए भगवान् आत्माके ज्ञानस्वरूपके अनुभव बिना, उसे पा नहीं सकते। दया–दान आदि कोटि उपाय करे, तो भी उसे चैतन्य भगवान प्रकट नहीं होता। रागकी क्रिया लाख क्या करोड़ करे तो भी भगवान आत्मा प्रकट हो जाए – ऐसा नहीं है। ७०

*

तो उपाय क्या? ...कि जिस दशाकी दिशा परओर है, उस दशाकी दिशा स्वोन्मुख करे– यही उपाय है । रागादि तो पर वस्तु है, उससे आत्मा संवेद्यमान नहीं होता। 'स्व' स्वयं संवेद्यमान है। संवेद्यमान – संवेदनमें आने योग्य है । आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूप है, उसमें स्वयंके द्वारा एकता करे व विभावसे पृथकता करे – यही उपाय है और यही मोक्षका मार्ग है। ७१

*

ज्ञानस्वरूपी और अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूपी प्रभु अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द द्वारा आस्वादन योग्य है। भगवान् आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूपी होनेसे वह ज्ञानगुण द्वारा ही अनुभूत होने योग्य है। वह ज्ञानगुण बिना अनुभूत नहीं होता । कारण कि वह कारणान्तर द्वारा अनुभवगमय ही नहीं यानी कि इस कारणके अतिरिक्त अर्थात् ज्ञानगुणके अतिरिक्त रागकी क्रिया आदि अन्य कारणों द्वारा भगवान् आत्मा जानने योग्य नहीं है। ७२

*

करोड़ो रुपये खर्चे, मन्दिर बनवाए, आजीवन ब्रह्मचर्य पालन करे, पर ये तो शुभराग हैं। शुभराग है – वह क्लेश है, दुःख है, आडंबर है । ऐसे अडंबर करो तो करो, परन्तु सर्वज्ञ वीतराग देवने जैसा आत्मा बतलाया है, उसकी प्राप्ति तो इनसे नहीं होगी। धर्मके नाम पर यह शुभ रागका ही रस है। परन्तु ऐसे रागके रस द्वारा वीतराग स्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती। ७३

*

श्रुतकी जो वाणी है – वह अचेतन है, उसमें ज्ञान नहीं आता, इसलिए भगवान आत्मा और द्रव्यश्रुत भिन्न हैं, यानी कि द्रव्यश्रुतसे आत्माको ज्ञान नहीं होता।

द्रव्यश्रुतका ज्ञान भी यथार्थतया अचेतन है, क्योंकि वह परलक्षी ज्ञान है, स्वलक्षी ज्ञान नहीं। द्रव्यश्रुत जड़ वाणी है – आत्मा नहीं और उसे ग्रहण करनेसे जो ज्ञान होता है, वह परलक्षी होनेसे ज्ञान ही नहीं है। स्वभावका स्पर्श किया हुआ ज्ञान ही ज्ञान है। द्रव्यश्रुत तो जड़ है, पर उसके निमित्तसे जो ज्ञान होता है वह परसत्तावलम्बी ज्ञान होनेसे, ज्ञान ही नहीं है । द्रव्यश्रुतके ज्ञानसे आत्मा भिन्न है। ७४

*

ज्ञान और आत्मा – ऐसी दो ध्वनियाँ उठती हैं इसलिये ज्ञान और आत्मा भिन्न होंगे, ऐसी शंका न करें । यहाँ गुणको ही गुणी कहना है। ज्ञान – वही आत्मा है । नाम भिन्न हैं, इसलिये भाव और भाववान अर्थात् ज्ञान और भगवान दोनों अलग–अलग हैं ऐसी रंचमात्र भी शंका न करें। नाम भले ही भिन्न पड़े हों, परन्तु भाव भिन्न नहीं हैं। ७५

*

ज्ञानियों की वास्तविक जन्मजयंती कौन-सी!!

सम्यक्दृष्टिका स्वरूप क्या? पूज्य बहिनश्री (चंपाबहिन)का सम्यक्त्वदिन आ रहा है। (सम्यक्जयंती) है वह गुणोंका बहुमान है, व्यक्तिका बहुमान नहीं है। वास्तवमें इसमें गुणोंका बहुमान है। जो एक क्षण अनन्त भवका क्षय करती है, अनन्त भवोंका छेद करती है.. कुल्हाडीसे जैसे मूलसे उखाड़ देती है, ऐसे भवरूपी वृक्ष पर कुल्हाडीका प्रचंड प्रहार है। इस एक क्षणका अनुभव बहुत महान चीज़ है, यह अवगत कराने हेतु इसकी महानता यहाँ व्यक्त करते हैं। वह ऐसे कि, क्षणमें केवलज्ञान प्रगट करनेका सामर्थ्य प्रगट किया। कितने रस समेत यह आत्मानुभव हुआ होगा! यह वहाँ तक पहुँचे बिना समझमें आना मुश्किल है। कितने रस सहित इसका अवतरण होता है कि, जब भगवानआत्माका जैसे जन्म हुआ हो। वास्तवमें तो ज्ञानियोंकी जन्मजयंती यह है!! इसके अलावा जो देहकी जन्मजयंती, देहका जन्म हुआ है सो तो एक शरीरसे संबंध रखनेवाली बात है। जिस संबंधको तो ज्ञानी छोड़नेवाले हैं। उसकी इतनी कीमत नहीं है। वास्तवमें तो ज्ञानीके रूपमें जन्म तो इस दिन हुआ है, यह उससे बढ़कर जन्मजयंती है। हकीकतमें दो जन्मको लेवे तो – एक आत्माका जन्म ... (वैसे) आत्मा अविनाशी है परन्तु यहाँ आत्मा आत्माके रूपमें अनुभवमें आया तब वास्तवमें आत्मारूप हुआ, तब परमात्मा हुआ उसवक्त! अतः वास्तवमें यह सच्ची जन्मजयंती है। (देहवाली) चाहे मनाये या न मनाये परन्तु यह (सम्यक्जयंती) तो मनानी ही चाहिये – ऐसा है। क्योंकि इसका महत्त्व उससे अधिक है। हालाँकि बाह्यदृष्टिवानोंको बाह्य प्रसंगकी महिमा अधिक रहती है इसलिए देहके जन्मदिनको मुख्य करते हैं। जबकि ऐसा जन्मदिन तो सभी प्राणियोंका आता है। शरीर-देहका जन्म तो सर्व प्राणियोंके लिए सामान्यसा है। परन्तु आत्माका सम्यक्त्वरूप जन्म होना सो तो करोड़ों-अरबोंमें किसी एकको होता है। असाधारण बात है। कितना असाधारण है कि, करोड़ों-अरबोंमें... अरबों मनुष्योंमें, जैसे वर्तमानमें विश्वकी आबादी ४ अरब जितनी है, इसमें कोई एक होता है। यह इसकी असाधारणता है। सो तो संख्या अपेक्षा असाधारण बात हुई। परन्तु यहाँ तो केवलज्ञान प्रगट करनेकी लब्धि प्रगट हो गई वह भी एक असाधारण-सी बात है।

*

(पूज्य बहिनश्रीकी सम्यक्जयंतीके लिए पूज्य भाईश्री शशीभाईके हृदयोद्गार
श्री 'परमागमसार' प्रवचन नं-७८ मेंसे)

आभार

'स्वानुभूतिप्रकाश' (मार्च-२०२५, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पणराशि
श्रीमती शोभनाबहिन चंद्रेशभाई मेघाणी, कोलकाता
की ओर से ट्रस्टको साभार प्राप्त हुई है।
अतएव यह पाठकों को आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

सम्यक्त्व प्राप्त करनेवाला आत्मार्थी कैसा हो?

– पूज्य भाईश्री शशीभाई

अनंतकाल से संसारपरिभ्रमण करते जीव के भव्यत्व का परिपाक आता है। तब उस जीव के अंतर-बाह्य जीवन में फेरफार होता है। और वह एक फेरफार के योग्य घटना बनती है। प्रायः उस जीव को सत्पुण्य से या प्रयत्नपूर्वक सत्संग का योग होता है और उसमें से आत्मोन्नति की परिणामश्रेणि शुरू होती है। उस परिणामश्रेणि का क्रम आत्मार्थीजीव के लिये प्रयोजनभूत होने से वह यहाँ प्रस्तुत है। उस परिणामश्रेणि की विशेषता यह है कि उन परिणामों की प्रत्येक भूमिका में दर्शनमोह विशेष-विशेष मंद होकर ज्ञान में निर्मलता बढ़ती जाती है।

* सर्व प्रथम उस क्रम में प्रवेश करनेवाले जीव को, जो कि स्वयं अनंतकाल से चौरासी लाख योनियों में व चारों गतियों में जन्म-मरण करके परिभ्रमण कर रहा है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई अतएव क्या करने से उसकी निवृत्ति हो ? उसकी चिंतना प्रारंभ होती है। और वह चिंतना उग्र होकर वेदना और व्यथा उत्पन्न करती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने के पीछे विवेकपूर्वक की सुविचारणा रही हुई है। संसार में अनेक प्रकार के व अकथ्य दुःख के प्रसंग उत्पन्न होते हैं किंतु उनमें सबसे अधिक दुःखमय प्रसंग आकुलता का है कि जो अकुलाहट असह्य होने से जीव अपघातकर मौत को पसंद करता है। ऐसे असह्य दुःखों से निवृत्त होने की समस्या सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या की तुलना में संसार की कोई भी समस्या हो तो वह बहुत ही अल्प है।

इसलिये विचारवानपने के कारण समस्त उदय गौण होकर, सहज ही परिभ्रमण से मुक्त होने की, वेदनापूर्वक जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

* जब कोई भी जीव उपर्युक्त वेदना में आता है तब उसे अति वेदना के वश खाने-पीने से लेकर समस्त उदयगत कार्यों में सहज ही नीरसपना हो जाता है और सहज उदासीनता का क्रम इस स्तर में शुरू होता है। जिससे पंचेन्द्रियों के विषयो में आसक्ति और रस के परिणाम एकदम फीके पड़ जाते हैं। उसी भाँति संसार कि उपासना का अभिप्राय भी शिथिल हो जाता है। तथा इस भूमिका में अनादि काल का स्वच्छंद शिथिल हो जाता है। संसार-उपासना का अभिप्राय शिथिल होने से प्रतिबंधक भाव भी ढीले पड़ जाते हैं जिससे आत्मकल्याण की दिशा में आगे बढ़ने हेतु अवकाश प्राप्त होता है।

* अनादि से जीव का ध्येय संसार का होने से उसकी सावधानी देहादि संयोगों की सार-सँभाल व वृद्धि के कार्य में वर्तती है। ऐसी सावधानी सदैव दर्शनमोह को तीव्र करती है, जिससे आत्महित की विवेकवाली मति को आवरण आता है। परंतु उक्त उदासीनता के कारण, उस प्रकार की सावधानी छूटकर, जीव मुक्त होने के निर्धार/निर्णय में आता

है और परिपूर्ण शुद्ध (निष्कलंक) दशा प्राप्त करने का ध्येय बाँधता है। वह इस प्रकार कि-'अब मुझे इस जगत में से कुछ भी नहीं चाहिए, एक मेरा आत्मा ही चाहिए।' ऐसी दृढ़ वृत्ति से ही अंतःकरण की शुद्धि होती है। जब शुद्ध अंतःकरण से इस प्रकार का ध्येय बाँधने में आता है तब, संसार की उपासना व संसार के ध्येय के कारण जो जो विपरीत अभिप्राय थे उन अभिप्रायों में परिवर्तन आता है और 'एकमात्र मोक्ष अभिलाषा' होने से मोक्ष के बारे में ही उसका अभिप्रायपूर्वक प्रयास चलता है। इस भूमिका में विपरीत अभिप्रायों का भलीभाँति परिवर्तन होता है। और उसके कारण यहाँ से वास्तविक मुमुक्षुता की शुरूआात होती है। एक न्याय से इन परिणामों से मोक्षमहल की नींव का पत्थर (मंगल शिलान्यास) रखने में आता है। उसी भाँति इस भूमिका का सुदृढ़ता से निर्धार करने से मुमुक्षुभूमिका में यथायोग्य उपजनेवाले अन्य आनुषंगिक परिणामों की सहज उत्पत्ति होती है। उसमें यह ध्येय/लक्ष्य कारणभूत है और इसी के फलस्वरूप सहजरूप से ऊपर-ऊपर की भूमिका के परिणाम होने लगते हैं; जिनका विवरण निम्न है :-

* उपर्युक्त ध्येय का निर्धार होने से अंतर की गहराईमें से स्वरूप-प्राप्ति की अपूर्व भावना उदित होती है। ऐसी भावना पृष्ठ भूमि (back ground) कोई राग-द्वेष के कारण नहीं बल्कि मात्र निज चैतन्यमें से ही चैतन्य की भावना उपजी हुई होती है। इसलिये वह जीव संवेगपूर्वक अपने ध्येय के प्रति पूरी लगन से और उत्कटता से लगता है। लगन के साथ साथ स्वकार्य की पूरी उत्कंठापूर्वक आगे बढ़नेवाले मुमुक्षु की भूमिका में अति अल्पकाल में विकास होता है। जिस जिस प्रकार का विकास सधाता है, उन विकास के परिणामों का विवरण निम्न प्रकार से जानने योग्य है।

* पूर्णता का लक्ष्य निरंतर रहता होने से मुमुक्षु की भूमिका के विकास का मुख्य आधार जिसपर है ऐसी निजहित के प्रयोजन की दृष्टि, यहाँ से प्राप्त होती है तथा वह दृष्टि, तीक्ष्णरूप से व सूक्ष्मरूप से प्रवर्तती हुई अपने को अहित से बचाती है और शीघ्रता से हित साधन में कार्यसाधक होती है। उदाहरणार्थ :- पूर्वकाल की अपेक्षा वर्तमान में उच्चकोटि के शुभभाव होनेपर भी और उसमें आत्मकल्याण का लक्ष्य रहनेपर भी वहाँ स्वानुभूति का अभाव होने से उसकी खटक अंदरमें बनी ही रहती है। जिसमे पूर्वकाल की तुलना में अनेक प्रकार से वर्तमानदशा का सुधार होनेपर भी उसमें तनिक- सा भी संतोष नहीं होता, अपितु असंतोष वर्तता है। तथा स्वकार्य त्वरा से हो वैसी उत्कटता इस भूमिका में होती है। जिसके कारण आ पड़े उदय के कार्यों की प्रवृत्ति करनी पड़े उसमें थकान लगती है और वैसा उदय लंबाये तो त्रासरूप अनुभवाता है जिससे संसारबल घटता ही जाता है।

* निजहित के प्रयोजन की जो दृष्टि पूर्ण शुद्धि का लक्ष्य होने से प्राप्त होती है उस दृष्टिकोण के कारण एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंतरसूझ उद्‌भवती है जिससे अपनी भूमिका में-भवरोग की निवृत्ति का उपाय जिसने जाना है वैसे आत्मज्ञानी सत्पुरुष के चरणकमल के सान्निध्य में रहने का अभिप्राय हो आता है ! अनंतकाल में पहले अनेक धर्म-साधन करनेपर भी जीव को ऐसी सूझ नहीं आई और वह एक भयंकर बीजभूत भूल रह गई ! उस भूल का सुधार होना सो एक महत्त्वपूर्ण कार्यसिद्धि समझने योग्य है ! इस सूझ के कारण आत्मार्थी जीव को ऐसा विवेक वर्तता है कि 'मैं मार्ग से अनभिज्ञ हूँ! तथा मेरे भवरोग के इलाज हेतु मुझे

अपनी मतिकल्पना से–स्वच्छंदता से कुछ भी साधन या उपाय, मात्र उक्त बीजभूत भूल को टालने के अलावा, करना नहीं चाहिए ! वास्तव में तो यदि कोई ज्ञानीपुरुष मिल जाये तो मेरे सर्वपरिणामों की किताब खोलकर मेरी प्रवर्तमान योग्यता को दर्शा दूँ! और मेरा कल्याण हो वैसे मार्गदर्शन की याचना करूँ !'–ऐसे विवेकपूर्वक वह जीव मात्र सत्पुरुष को इच्छता है और उनकी खोज करता है ! एवम् वैसे महात्मा के योग में, पहचानने की तीव्रता रखकर, उनकी पहचान करता है; और यदि पहचान हो जाये तो उन्हें परम प्रेम से चाहता है और सर्वार्पणबुद्धिपूर्वक उनके सत्संग में रहकर, पूर्ण आज्ञाकारिता में रहकर यानी कि स्वच्छंदनिरोधपने भक्तिभाव से उस सत्संग की उपासना करता है ! उनके चाहे जैसे वचनों में भी सम्यक् प्रतीति रहती है! तथा अपने प्रकृति आदि सर्वभावों का अर्पण करके वर्तता है ! इस प्रकार के परिणामों के कारण उस आत्मार्थी जीव का दर्शनमोह अत्यंत मंदता को प्राप्त होता है तथा उस भूमिका के ज्ञान की निर्मलता विशेष होती है ! जैसे–जैसे ज्ञान में निर्मलता आती जाती है वैसे–वैसे प्रयोजन की दृष्टि अधिक सूक्ष्म और तीक्ष्ण होती जाती है जो मुमुक्षुता के विकास में मुख्य आधारभूत है ! इस प्रकार से मुमुक्षु की भूमिका में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष योग का अत्यंत महत्त्व है तथा उसकी ऐसी आवश्यकता है कि उसके बिना मुमुक्षु किसी भी प्रकार से, ज्ञानदशा की प्राप्ति अथवा तदर्थ, बीजज्ञान की प्राप्ति कर नहीं सकता !

जो कोई मार्ग–शोधक आत्मार्थी आत्मशांतिहेतु मार्ग न मिलने से, अत्यंत वेदना में और तीव्र तड़पन में आये, तो उसकी पात्रता वर्द्धमान हो सकती है; तो भी मार्ग की प्राप्ति और दिशासूझ तो प्रत्यक्ष ज्ञानी के योग बिना अन्य प्रकार से, किसी भी तरह होनी संभव नहीं है। बाकी सामान्य मुमुक्षु को तो मोक्षमार्ग के प्रति आगे बढ़ने में कदम–कदम पर मार्गदर्शन की ज़रूरत पड़ती है जिसका समाधान प्रत्यक्ष योग सिवा असंभवित है। और इसीलिये सत्पुरुष के प्रत्यक्ष योग का महत्त्व अनुभव में समझने में आता है। उसका अन्य विकल्प द्वारा मार्ग प्राप्त करने का अविचारी अभिप्राय नहीं होता।

यथार्थता–उक्त प्रयोजन की तीक्ष्ण व सूक्ष्म दृष्टि होने के कारण, समझ की भूमिका में समझ की यथार्थता उत्पन्न होती है। यद्यपि यथार्थता का क्षेत्र अति गहन और विशाल है तथापि संक्षेप में ऐसा कहा जा सकता है कि समझ की यथार्थता होनेपर सत्पुरुष के वचन / शास्त्रवचन, प्रयोजन सिद्ध हो वैसे, समझ में आते हैं। प्रायः कहीं भी असमाधान नहीं होता; और अध्यात्मतत्त्व का रस एवं रुचि वृद्धिगत होती जाती है। ऐसा होने का कारण परिणति में रागरसरूप रंजितपना घटनेपर तथा दर्शनमोह का अनुभाग घटने पर मुमुक्षु के योग्य ज्ञान की निर्मलता प्राप्त होती है और इस प्रकार वह इस भूमिका की विशुद्धि है अथवा पात्रता है। यथार्थता की प्राप्ति के कारण अयथार्थता से उपजनेवाले विपर्यास मिटते हैं और उन विपर्यासों से उत्पन्न होनेवाली दोष–परंपरा भी मिटती है। ऐसी यथार्थता ही विकसित होकर, स्वानुभूति के काल में, सम्यक्त्व का रूप धारण करती है।

स्वरूपप्राप्ति की तीव्र भावना उत्पन्न हुई होने से, इस भूमिका में, एक नई जागृति आ जाती है जिससे अपने सर्व परिणामों में अपक्षपातपने (मध्यस्थभाव से) अवलोकन चालू होता है। अवलोकन यानी वर्तते परिणामों में होनेवाले अनुभव को देखना। अवलोकन के इस प्रकार के अभ्यास से, अनुभव में आनेवाले अनेक प्रकार के भावों की

समझ, उन भावों के अनेक पहलुओं से अनुभवपूर्वक समझने में आती है यानी कि अपने भावों की समझ अनुभवपद्धति से होती है। प्रथम वे ही भाव विचारपद्धति से समझ में आये थे परन्तु अवलोकन के अभ्यासपूर्वक वे ही भाव जब अनुभवपद्धति से समझने में आते हैं तब उन भावों की गहनता हाथ में आती है और कितने-ही भावों के पीछे अभिप्राय शामिल हो तो उस अभिप्राय का बल और उसके कारण उपजनेवाला रस वगैरह पकड़ में आता है। उदयभावों में वर्तता विभावरस, अवलोकन के काल में पकड़ने में आने से, वह यथार्थ प्रकार से एकदम फीका पड़ता है और साथ ही साथ दर्शनमोह का अनुभाग भी विशेष घटता जाता है। तदुपरांत तत्त्वज्ञान का अभ्यास भी अंतर् अवलोकनपूर्वक चलता है यानी कि उन भावों संबंधी तत्त्वचर्चा चलती है; उन भावों को अपने अवलोकन से और अंतर् संशोधनपूर्वक समझना बनता है। उसमें भी जब अपना वर्तमान प्रयोजनभूत विषय आता है तब रस वृद्धिगत होता है। ऐसे आत्मार्थी जीव की निर्णय करने की पद्धति प्रयोगपूर्वक हो जाती है। जो जीव केवल शब्दार्थ, भावार्थ, न्याय की मदद से, तर्क-विचार से, अनुमान से या शास्त्राधार से निर्णय करता है उसमें भूल या क्षति रहने की संभावना है परंतु प्रयोगपूर्वक / प्रयोग के शाणपर चढ़ाकर निर्णय होता है वह निर्णय, यथार्थ निर्णय होता है। ऐसा अवलोकन का फल है वह अन्य प्रकार से प्राप्त नहीं होता।

वैराग्य :- यद्यपि मूल से वैराग्य की क्रमिक शुरूआत तो परिभ्रमण की व्यथा के काल में सहज हो गई होती है, परन्तु अवलोकन के स्तर से यह वैराग्य और उदासीनता क्रम के आगे के स्तर में प्रवेश करती है; और उससे उदय के कार्य जो पूर्वप्रारब्धवशात् आ पड़ते हैं जिससे वे करने पड़ते हैं, तब उनमें अमूल्य आत्मजीवन गँवाना पड़ता है ऐसा लगा करता है। एवं अवलोकन करते-करते सत् की गहरी जिज्ञासा उत्पन्न होने से वह जीव स्वरूप की अंतर्खोज में खो जाता है। और सत्स्वरूप की गहरी जिज्ञासा के कारण सर्व उदयप्रसंगों में कहीं भी चित्त नहीं लगता, बल्कि अपने प्रयोजनभूत विषय को तो सूक्ष्म उपयोग से, गहरी रुचि से और गहन मंथनपूर्वक पकड़ता है। इस स्तर में मार्ग की समीपता होने से वर्तते परिणमन में मुमुक्षुता वर्द्धमान होने पर भी (पूर्णता का लक्ष्य होने से) कहीं भी संतुष्ट नहीं होता, प्रत्युत प्राप्त योग्यता, उसे गौण हो जाती है कारण कि पूर्णदशा की अभिलाषा निरंतर वर्तती रहती है। ऐसे मुमुक्षु जीव को गुण की महिमा व गुण की मुख्यता ही वर्तती है जिससे अन्य मुमुक्षु के अल्प गुण के प्रति भी प्रमोद आता है और इस प्रकार से आत्मरुचि अर्थात् गुण की रुचि पोषित होती है। वैराग्य के साथ मुमुक्षुता का विकास हो वैसे आनुषांगिक परिणाम सहज अपनेआप उत्पन्न होते जाते हैं जो निम्न प्रकार हैं :-

उक्त भूमिका में आये हुए जीव को सत्पुरुष की पहचान होने में, सत्पुरुष के वचनों में निहित 'अनुभव की विधि की गंभीरता और अंतर्मुख परिणमन के रहस्य' को गहन चिंतवन और अवलोकन द्वार खोजता होने से वह पारमार्थिक रहस्य को समझ सकता है तथा उससे सत्पुरुष की अंतर् परिणति की पहचान से सत्पुरुष की महिमा उसके हृदय में स्थित हो जाती है। विशेषकर सत्पुरुष के पुरुषार्थ की परिणति के अवलोकन से उसे स्वयं को ऐसी प्रेरणा मिलती है कि अपनी समग्रशक्ति से (शक्ति को तनिक भी छिपाये बगैर) पुरुषार्थ में लगा रहता है। यहीं से भेदज्ञान की पूर्वभूमिका प्रारंभ

होने से विकल्पमात्र में अंदर से दुःख लगने लगता है जिससे विकल्प से खिसकने के दृष्टिकोणवाले परिणमन की तैयारी होती है। उससे औदयिकभाव उसे अत्यंत भाररूप लगे और कहीं भी न सुहाये, ऐसी उदासीनता रहा करे।

स्वकार्य शीघ्र करने की वृत्ति होने से 'पीछे करूँगा' ऐसा अरुचिसूचकभाव कभी भी नहीं आता बल्कि मेरा कार्य अभी ही होता हो तो अविलंब कर लेना ही है। तथापि अन्य कार्य प्रथम करने के कारण यदि विलंब हो तो वह नहीं पुसाता। प्रत्युत स्वकार्य की तत्परता का परिणाम चालू रहता है। एवम् उसकी अंतर- बाह्य निवृत्ति की चाहतपूर्वक स्वकार्य करने की उत्कंठा रहा करती है।

पात्रता के आनुषंगिक परिणामों में ब्रह्मचर्य की चाहना रहती है। और सैंकडों-हजारों विकल्पों की परंपरा का मूल सर्जक ऐसा अब्रह्मचर्य अंतर् आत्मवृत्ति से प्रतिपक्षभूत जानकर उसकी अरुचि रहा करती है।

तथा, स्वच्छंद की हानि होने के लिये अपने परिणामों के अवलोकन के काल में अपने दोष टालने के हेतु से अपक्षपातरूप से देखने का अभ्यास चलता है, उससे ज्ञान में मध्यस्थता और निर्मलता पल्लवित होती जाती है।

बहुजनपरिचय आत्मसाधना के प्रतिकूल परिस्थिति है ऐसा जानकर एकांतप्रियता व अल्पपरिचयीवृत्ति रहती है। राग-रस मंद हुआ होने से आहार, विहार और निहार में नियमितता रहती है जिससे वैसे उदयभाव मर्यादित रसवाले सहज प्रवर्तते हैं। वैराग्य के इस स्तर में आत्मार्थी को तीव्ररसवाले परिणामों से अनियमित आहारादि नहीं होते। इस प्रकार अनेक प्रकार से सामान्य जगत के जीवों और सामान्य मुमुक्षु से विशेष योग्यतावान् होनेपर भी अपने गुणों को व गुरुता को छिपाता है। वैसे प्रकार के मानव प्रसिद्धि से दूर रहना चाहते हैं। ऐसा होने में कहीं भी कृत्रिमता या आडंबर न हो वैसी विचक्षणता भी रखी जाती है।

सन्मार्ग की यथार्थ कार्यपद्धति के मूल में, मुक्तपने का मूल्यांकन प्रारंभ से ही आया हुआ होता है जिससे आत्मकार्य की सर्वाधिक मुख्यता रहने के पीछे ऐसी स्पष्ट समझ होती है कि यह एक ऐसा वास्तविक उपाय है कि जिससे चारों गतियों के जन्म-मरण सहित के सर्व दुःखों का अभाव होकर अनंत काल पर्यंत का पूर्ण समाधिसुख प्राप्त होने का है। सुख-दुःख के इस प्रयोजन संबंधी आत्मविश्वास वर्तता होने से इस उपाय की सर्वाधिक मुख्यता रहनी स्वाभाविक है।

तत्त्वज्ञान के अभ्यास के काल में शास्त्रों में आनेवाले सर्व न्याय और अपेक्षित कथन तथा विभिन्न प्रकार की वचन-विवक्षाओं को आत्महित के लक्ष्य से समझने की पद्धति हो जाती है और कहीं भी पूर्वापर विरोधता नहीं भासती या असमाधान नहीं होता। एवम् कोई नया विपर्यास उत्पन्न नहीं होता। उपर्युक्तस्वलक्ष्यीपनेके कारण क्षयोपशम ज्ञान का विकास होनेपर भी उसमें अहंभाव होकर शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न नहीं होता। यथार्थता के सद्भाव में, जिसका मूल्य न हो सके वैसी समझ का यह प्रकार सहज उत्पन्न होता है, नहीं तो प्रायः शास्त्राभ्यास सद्गुरु के चरणसान्निध्य के बगैर जाने-अनजानें में शास्त्रीय अभिनिवेश उत्पन्न करता है।

पात्रतासूचक अनेक लाक्षणिक परिणामों का एक परिणाम गति-निःशंकता आ जाने से आगामी भवों में नीचगति होने से संबंध में स्वयं को शंका नहीं पड़ती इतना ही नहीं वरन् स्वयं की मुक्तदशा की योग्यता वर्तती होने के कारण तत्संबंधी निःशंकता

वर्तती है। और ऐसी निःशंकता को ज्ञानियों ने मुक्ति के मनकार गिनाये हैं।

आत्मार्थी जीव सरल परिणामी होता है। यह इस भूमिका का श्रेष्ठ सद्गुण है जिसके कारण अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। सरलता के कारण विचारशक्ति में मध्यस्थता सहज रहती है जिससे गुण-दोष की तुलना होने में भूल नहीं होती। सरलता और मध्यस्थता रहने से विचारों में विशालता रहती है, जिससे संप्रदायबुद्धि जनित संकुचितता नहीं रहती प्रत्युत जहाँ-जहाँ सत्य और सद्गुण दिखाई देते हैं वहाँ-वहाँ उनका सहज रूप से स्वीकार होता है। ये तीन सद्गुण तत्त्वप्राप्ति हेतु पात्रतासूचक हैं।

सुखाभास का ज्ञान यानी कि अन्यद्रव्य-भाव में 'सुख की कल्पना' का स्वरूप समझ में आया होने से पदार्थ का वास्तविक स्वरूप लक्ष्य में रखकर, उक्त कल्पना की निवृत्ति हेतु आत्मार्थी प्रयत्नवान् (सावधान) होता है। जिसके कारण जगत के किसी पदार्थ प्रति अंतरंग में भी सुख की कल्पना (वासना) नहीं रहती अथवा परिणति में किसी भी इन्द्रिय-विषय की अपेक्षा नहीं रहती अथवा शुभपरिणामों में या साता वेदनीय के उदयकाल में आश्रयबुद्धि नहीं रहती।

मुमुक्षु की भूमिका में, परमार्थमार्ग का अवरोधक स्वच्छंद नाम का महा दोष है। आत्मार्थी जीव उसके विभिन्न प्रकारों और लक्षणोंको समझकर उसे टालने का प्रयत्न करता है। यदि वैसा न करने में आये तो आत्मार्थिता का नाशक है। ऐसे कितने-ही प्रकार विचारणीय हैं, जो निम्न हैं :-

(१) परलक्ष्यी शास्त्र (ज्ञान) के उघाडमें 'मैं समझता हूँ' ऐसा अहंभाव और उस अहंभाव के वशात् ज्ञानीपुरुष के वचनों की अपने समान तुलना करना।

(२)अपने दोष का पक्षपात होना, बचाव होना तथा जिसपर राग / ममत्व हो वैसे अन्य व्यक्ति के दोष का पक्षपात होना।

(३) सत्पुरुष के वचन में शंका होनी अथवा उन वचनों को मान्य करने हेतु शास्त्राधार की अपेक्षा रखनी।

(४) सत्पुरुष के वचन में भूल देखनी अथवा अपने क्षयोपशम के अहंभाव के कारण उसमें संशोधन करने का भाव रहना।

(५) जहाँ-जहाँ मान मिले अथवा मान पोषित हो वह जाने का आकर्षण रहे, मान प्राप्ति हेतु मन-वचन-काया की प्रवृत्ति हो अथवा लोकदृष्टि रहे कि जिसके कारण समाज की मुख्यता से आत्मार्थ गौण हो। एवम् किसी समूह में अमुक स्थान संरक्षित रहे वैसी परिणति रहा करे एतदर्थ शुभप्रवृत्ति (?) करे अथवा स्वच्छंद तीव्र होनेपर अनैतिक व अशुभप्रवृत्ति भी करे।

(६) सत्पुरुष के उपकार को उल्लंघना यानी कि जिससे ज्ञान प्राप्त हुआ हो उसीका अवर्णवाद करना।

(७) सत्पुरुष के वचनामृत्त के प्रति और सत्पुरुष के प्रति अचल प्रेम का अभाव।

(८) प्रत्यक्ष सत्पुरुष के प्रति परम विनय-अत्यंत भक्ति का अभाव। (यानी कि जितनी विनय की न्यूनता उतना स्वच्छंद होने का अवकाश रहता है)।

(९) सत्पुरुष के औदयिकभावों और औदयिककार्यों में अपने समान कल्पना रहनी।

(१०) सत्पुरुष के बाह्याचरणमें से चारित्रमोह के दोषों को मुख्य करना।

(११) बाह्यज्ञान-शास्त्र की धारणा, उस पर के झुकाव के कारण अंतर में मार्ग की सूझ न

पड़नी अथवा अध्यात्म का विषय गौण होना।

–इत्यादिक प्रकार के परिणाम स्वच्छंद की मंदता अथवा तीव्रता की विद्यमानता को दर्शाते हैं।

तथा, आत्मार्थी जीव के आत्मार्थिता के बाधक ऐसे परिणामों के प्रकार न हों वैसे कितने–ही प्रकार लक्ष्य में लेने योग्य हैं जो निम्न हैं :–

(A) असरलता, हठाग्रह, जिद, पूर्वाग्रह और मताग्रह आदि प्रकार के भावों का अभाव, मध्यस्थ विचारधारा के कारण व्यक्तिगत पूर्वाग्रह का अभाव।

(B) ज्ञान के क्षोयपशम की विशेषता के कारण अपने को मान मिले वैसी चाहत न हो।

(C) परंपरा और बाह्यक्रियाके आग्रह का अभाव।

(D) शास्त्र–कथन तथा ज्ञानी के वचनों का कल्पित अर्थघटन न करे कि जिससे वस्तुस्वरूप से अन्यथापना हो अथवा परमार्थ से दूर जाना हो।

(E) किसी भी कीमत पर सत्पुरुष से विमुख होने का स्वीकार न करे और उसके लिये अपकीर्ति, अपमान, व समाज को गौण करे।

(F) प्रमाद का अभाव होने से स्वकार्य में उल्लसित वीर्य से आगे बढ़े।

(G) शास्त्र–अध्ययन, तत्त्व–श्रवण और तत्त्व–चर्चा आदि में ऐसा प्रकार न हो कि जिससे अपूर्ण निश्चय हो; विचारों की अपरिपक्वता रहे, शंकाशीलता रहे और उससे विकल्प वृद्धि हो अथवा विभ्रम उत्पन्न होकर विचारों में कुतर्क व डाँवाडोलपना रहे।

(H) लौकिक अभिनिवेश यानी कि लोक में जिन–जिन वस्तुओं और बातों का या प्रसंग का महत्त्व गिना जाता है उनके प्रति माहात्म्यबुद्धि का अभाव।

(I) शास्त्रीय अभिनिवेश से दूर रहे। शास्त्रीय अभिनिवेश यानी आत्मार्थ सिवा शास्त्र की मान्यता; अथवा शास्त्र–पठन या धारणा में संतोष; अप्रयोजनभूत विषय में जानपने की महत्ता (और उससे आत्मार्थ की गौणता)।

(J) प्रत्यक्ष सत्पुरुष के सत्संग को गौण कर उसकी तुलना में अपने शास्त्राध्ययन की गणना करनी अथवा शास्त्र को उच्च गुणस्थान स्थित पुरुष के वचन गिनकर उसपर विशेष भार देना (ऐसा अप्रशस्त शास्त्रीय अभिनिवेश ऐसे जीव को ही उपजता है कि जो लौकिक प्रयोजनवश शास्त्र–वाचन करता हो)। ऐसे परिणाम जिसके न हो।

(K) संदिग्ध अवस्था का अभाव। (अ) संदिग्ध अवस्था के कारण, ज्ञान प्राप्ति हेतु अनेक ग्रंथों का अध्ययन करने पर भी, संदेह उपजा करे जिससे कि अप्रयोजनभूत विषयपर वज़न रहे और उसमें अटकना हो। (ब) प्रत्यक्ष सत्पुरष के समागम में पहचान का अभाव होने से अंतरंग में सत्पुरुष की अमुक प्रवृत्ति के प्रति संदेह अथवा अविश्वास का परिणाम रहे अथवा उनकी अमुक बात अयोग्य लगे।

(L) निश्चय–अभेद आत्मस्वरूप की रुचि का अभाव। जिसके कारण ज्ञान में भेद–प्रभेद की रुचि रहा करे जिससे कि गुणभेद, पर्यायभेद, अनेक प्रकार के न्याय, नयज्ञान, कर्म के बंध–उदय और सत्ता के भेद–प्रभेद की जानकारी में रुचि व रस रहे।–ऐसे प्रकार का अभाव।

(M) अतिपरिणामीपने का अभाव। अतिपरिणामीपने के कारण शास्त्र के बाह्यज्ञान में ज्ञानप्राप्ति मान लेना तथा विकल्पवाले समाधान से मंदकषाय होने से ज्ञान से प्राप्त लाभ मान लेना उसी भाँति सम्यक् परिणमन के अभाव में भी अपने को कोई मानादि दे–वह रुचना। एवम् जानकारी रूप अपने ज्ञान का प्रदर्शन करने का भाव। (–ऐसे प्रकार

के भावों का अभाव)।

तथा, क्षयोपशमज्ञान में निश्चय-व्यवहार इत्यादि सब समझ में आने पर भी अंदर में मार्ग प्राप्ति की विधि स्वयं को पकड़ने में न आये, अथवा आत्मसाक्षात्कार न हो, तब तक जिज्ञासा का अभाव न हो। उसी भाँति शास्त्र संबंधी या देव-शास्त्र-गुरु संबंधी कोई प्रवृत्ति निज मानार्थ न करे / तीर्थ / शासनकी किसी प्रवृत्ति में अपने मान का लक्ष्य न रहे या न हो। विचारवान् जीव निंदा-प्रशंसार्थ कोई प्रवृत्ति न करे बल्कि पारमार्थिक लाभ- नुकसान का विचारकर प्रवृत्ति करे।

बाह्यक्रिया संबंधी मिथ्या आग्रह न हो कि जिससे असत् अभिमान हो अथवा देहात्मबुद्धि दृढ़ हो। व्रत-संयमादि दैहिक क्रिया में आत्मक्रिया मानने से असत् में सत् की मान्यता होती है और गृहीतमिथ्यात्व का प्रसंग आता है।-ऐसी भूल न करे। एवम् लौकिक मानार्थ भी व्रतादि का पालन न करे।

पुण्य के फलस्वरूप में बाह्य अनुकूलता की अभिलाषा से भी व्रत-तप न करे अथवा कोई रिद्धि-सिद्धि आदि की निदानबुद्धि भी न करे।

अकेला अध्यात्म-चिंतन यानी कि अध्यात्म-विषय का केवल जानपना करने जानेपर शुष्क अध्यात्मपना उत्पन्न होता है। उसमें अध्यात्म का भावभासन नहीं होता। मात्र राग-रस और अध्यात्म-भाषा का रस (वाणी का रस) जो कि पुद्गल का रस है तथा उसमें आत्मरस / ज्ञानरस का अभाव होता है, सो वह अध्यात्म का व्यामोह है-ऐसा प्रकार भी सच्चे आत्मार्थी के, सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेवाले के नहीं होता।

उपर्युक्त योग्यतापूर्वक अपने भावों का अवलोकन होने से 'आत्मभाव तथा अन्य भावों का परिचय होने से उनकी जाति पहचानने में आती है; एवम् आत्मभाव के आदरपूर्वक अन्यभावों का निषेध शुरू होता है। इस भाँति अवलोकन की भूमिका का पर्याप्त प्रयोग होने से उसमें से भेदज्ञान के प्रयोग की उत्पत्ति होती है, ज्यों ज्यों भेदज्ञान का प्रयोग भली भाँति होता जाता है त्यों त्यों ज्ञान में निर्मलता और सूक्ष्मता प्राप्त होती जाती है। उस निर्मलता व सूक्ष्मज्ञान के कारण, ज्ञानोपयोग में रहे हुए सूक्ष्म ज्ञानस्वभाव का भावभासन आता है यानी कि निजस्वरूप का अस्तित्व ग्रहण होता है। एकबार अस्तित्व ग्रहण होने से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। वह इस प्रकार से कि, आत्मस्वरूप अनंत महिमावंत है उतनी उसकी, अपने स्वरूप में, अनंत महिमा भास्यमान होती है और यहाँ से सम्यक् संमुख पुरुषार्थ की (चैतन्यवीर्य की) स्फुरणा उत्पन्न होती है। वह पुरुषार्थ और महिमा दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होती है और आत्मार्थी को उसकी धुन चढ़ जाती है; जिसके फलस्वरूप निर्विकल्प स्वरूप की निर्विकल्प स्वानुभूति उत्पन्न होती है। वह स्वानुभूति सो ही आत्मसाक्षात्कार है। और उसी समय मिथ्या श्रद्धा नष्ट होकर सम्यक् श्रद्धा / सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। और मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है यानी कि प्रारंभ में ही अनंत जन्म- मरण की अनंतता का नाश हो जाता है जिससे अल्प भव में जीव मोक्षपद को प्राप्त होता है।'

ॐ शांति

(श्री 'तत्त्वानुशीलन' में से साभार उध्दृत)

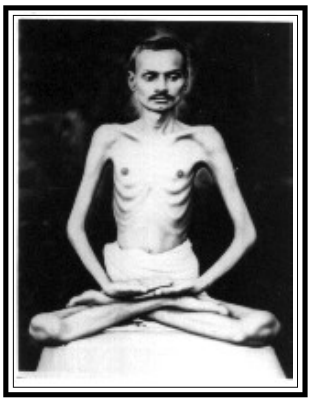

परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी द्वारा लिखित आध्यात्मिक पत्र

पत्रांक- ३८४

बंबई, आषाढ़ सुदी ९, १९४८

शब्दादि पाँच विषयोंकी प्राप्तिकी इच्छासे जिनके चित्तमें अत्यंत व्याकुलता रहती है, ऐसे जीव जिस कालमें विशेषरूपसे दिखायी देते हैं, वह यह 'दुषम कलियुग' नामका काल है। उस कालमें जिसे परमार्थके प्रति विह्वलता नहीं हुई, चित्त विक्षेपको प्राप्त नहीं हुआ, संगसे प्रवर्तनभेद प्राप्त नहीं हुआ, दूसरी प्रीतिके प्रसंगमें जिसका चित्त आवृत्त नहीं हुआ, और जो दूसरे कारण हैं उनमें जिसका विश्वास नहीं है, ऐसा यदि कोई हो तो वह इस कालमें 'दूसरा श्री राम' है। तथापि यह देखकर सखेद आश्चर्य होता है कि इन गुणोंके किसी अंशमें सम्पन्न भी अल्प जीव दृष्टिगोचर नहीं होते।

निद्राके सिवाय शेष समयमेंसे एकाध घंटेके सिवाय शेष समय मन,वचन,कायासे उपाधिके योगमें रहता है। उपाय नहीं है, इसलिये सम्यक्परिणतिसे संवेदन करना योग्य है।

महान आश्चर्यकारी जल, वायु, चंद्र, सूर्य, अग्नि आदि पदार्थोंके गुण सामान्य प्रकारसे भी जैसे जीवोंकी दृष्टिमें नहीं आते हैं, और अपने छोटेसे घरमें अथवा अन्य किन्हीं वस्तुओंमें किसी प्रकारका मानो आश्चर्यकारक स्वरूप देखकर अहंत्व रहता है, यह देख ऐसा लगता है कि लोगोंका अनादिकालका दृष्टिभ्रम दूर नहीं हुआ, जिससे यह दूर हो ऐसे उपायमें जीव अल्प भी ज्ञानका उपयोग नहीं करता और उसकी पहचान होनेपर भी स्वेच्छासे व्यवहार करनेकी बुद्धि वारंवार उदयमें आती है इस प्रकार बहुत जीवोंकी स्थिति देखकर ऐसा समझें कि यह लोक अनन्तकाल रहनेवाला है।

नमस्कार पहुँचे।

*

पुद्गल रससे हानि...

स्वरूपप्राप्तिकी भावना अंतरसे उत्पन्न होनी चाहिये और जब जीवको इस भावनाका अभाव है तो उसे पुदगलकी भावना है। यदि हमें आत्मप्राप्तिकी भावना नहीं है तो इसका मतलब हमें संयोगकी भावना है, अनात्माकी भावना है जो कि गंभीर नुक़सानका विषय है। यह स्थिति हमें सम्यक्दर्शनकी पूर्वभूमिकाकी भी समीपता नहीं होने देंगी। ऐसी विषयकी गंभीरताको समझकर हमें पुदगलके रसको तोड़ना आवश्यक है।

- पूज्य भाईश्री शशीभाई

(श्री 'बहिनश्रीके वचनामृत'-६१ पर प्रवचन, श्री 'अध्यात्मसुधा' भाग-२, पन्ना-२८९)

पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चा

मंगलवाणी-सीडी-१५-A

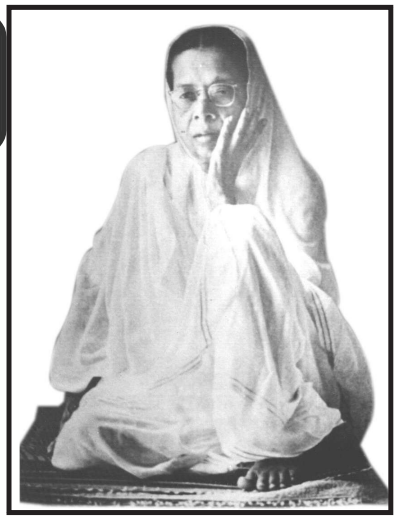

गुरुदेव का उपकार गाये कि गुरुदेव आपने ही सब दिया है। स्वयं तो कुछ नहीं जानता था। गुरुदेवने समझाया तब जाना है। इसलिये जो आत्मार्थी है वह तो गुरुदेव का ही उपकार मानता है। भगवान का उपकार मानता है। क्योंकि खुद तो कुछ जानता नहीं था। गुरुदेवने समझाया तब जाना है। इसलिये उपकार गुरुदेव का है, लेकिन अपनी तैयारी के बिना स्वयं जान नहीं सकता।

मुमुक्षु :- आपने कहा वैसे चिंतवन के काल में तो मैं ज्ञायक आत्मा हूँ, वह बराबर है। फिर आपने कहा कि खाते-पीते, घूमते-फिरते, विकल्पात्मक में भी वैसा अभ्यास चालू रखना चाहिये। यह अभ्यास चालू रखने में वर्तमान ज्ञान उपयोग को उस ओर ले जाना कि यह जाननेवाला मैं हूँ? बारंबार अन्य रागसे, अन्य कोई संयोग में खड़े हो तब यह जाननेवाला मैं हूँ, ऐसे ज्ञानलक्षण द्वारा अन्दर जाने का प्रयत्न करना वह सच्चा प्रयत्न है? केवल विकल्प (करे कि), मैं यह भिन्न ज्ञायक हूँ। यदि भावभासन अर्थात् लक्षणपूर्वक नहीं आता तो ऐसा लगता है कि ये तो रूखा विकल्प (हुआ), रूखे विकल्प हुए। लेकिन वास्तव में जैसे आप कहना चाहते हो कि जिस अभ्यास के फलस्वरूप सहजता आनी चाहिये। उसप्रकार में थोड़ा विशेष स्पष्ट करके आप समझाईये कि ऐसा विकल्प आये उस वक्त इसप्रकार करने की बात है। हम तो रहे सामान्य बुद्धिवान, इसलिये आपसे कुछ इसप्रकार का ग्रहण हो तो प्रयत्न चालू रहता है।

समाधान :- स्वयं ज्ञायक है। विकल्प आये तब भी मैं ज्ञायक हूँ। ऐसा ज्ञायक को ग्रहण करके बारंबार स्वयं स्वयं की ओर श्रद्धा के बलसे उसकी परिणति को पलटे। उपयोग बाहर जाये तो भी ज्ञायक को पहचानकर कि यह ज्ञायक मैं हूँ। लेकिन अभी उसका अभ्यास (चलता) है इसलिये कोई बार उसे मात्र विकल्पात्मक अभ्यास है, इसलिये कोई बार उसे ज्ञायक को ग्रहण करके-भाव ग्रहण करके आये, कोई बार विकल्पपूर्वक आये। उसका पुरुषार्थ धारावाही रहता नहीं। लेकिन वास्तविक तो यह है कि भाव ग्रहण होकर जो आये वह बराबर है। परन्तु उसमें उसे पुरुषार्थ करते-करते कोई विकल्पमात्र आये और कोई बार भावभासन होकर आये। भावभासन होकर आये वह बराबर है।

अन्दर ज्ञायक की श्रद्धा का बल है और उस ओर उसकी परिणति की डोर को ले जाता है कि यह ज्ञायक है वह मैं हूँ, यह विकल्प मेरा स्वरूप नहीं है। यह ज्ञायक मैं हूँ। विकल्प में जुड़ना, मात्र विकल्पात्मक मेरा स्वरूप नहीं है। मैं जाननेवाला भिन्न हूँ। भिन्न हूँ सो भिन्न ही हूँ। इसप्रकार का उसे निर्णय (हुआ) और निर्णय हुआ है उस अनुसार परिणति को उस ओर झुकाता रहे। इसलिये विकल्प में जो एकत्वता और तन्मता होती है, उस तन्मयतासे थोड़ा उसमेंसे भिन्न होने का प्रयत्न करता है। कोई बार उसे मात्र रटन जैसा या मात्र विकल्परूप होता है कि मैं ज्ञायक हूँ। पुरुषार्थ करे उसमें फेरफार होता है। लेकिन वास्तविक तो ज्ञायक को ग्रहण करके

अन्दर श्रद्धा के बलसे और उसे विकल्प में जो आकुलता होती है वह आकुलता उसकी मन्द पड़ती है। ज्ञायक की ओर जाता है तो आकुलता मन्द पड़ती है और उतनी थोड़ी स्थिरता उसे उस ओर की आती है। लेकिन उसप्रकार का उसे अभ्यास खास प्रकार का, जिज्ञासा, लगनी और धगश लगी हो तो उसका अभ्यास चालू करे। चालू हो तो उसमें उसप्रकार का भी चालू रहता है, क्योंकि अभ्यासरूप है।

(तत्त्वचर्चाका शेष अंश आगेके अंकमें...)

सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई के समाधिदिन (चैत सुदि ५) के उपलक्ष में तीन दिवसीय धार्मिक कार्यक्रम

१) चैत सुदि त्रीज, सोमवार (दि.३१-३-२५) से पांचम, बुधवार (दि.२-४-२५)

सुबह : ७.०० से ८.०० पू.भाईश्री ऑडियो प्रवचन
स्थल : 'ज्ञानमात्र' समाधि मंदिर, भावनगर
१०.०० से ११.३० मंडल विधान पूजन
स्थल : दिगंबर जैन मंदिर, जूनी माणेकवाड़ी, भावनगर

दोपहर : ४.३० से ५.३० पू.भाईश्री गुणानुवाद
स्थल : श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर

रात्रि : ८.०० से ९.०० पू.भाईश्री विडीयो प्रवचन
स्थल : श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर

२) चैत सुदि पांचम, समाधि दिन प्रातःकाल ४.०० से ४.३० वैराग्य भक्ति एवं श्रद्धांजली
स्थल : श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर

'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी) के स्वामित्वका विवरण फोर्म नं.४, नियम नं. ८

पत्रका नाम	:	'स्वानुभूतिप्रकाश' (हिन्दी)
प्रकाशन स्थल	:	श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
प्रकाशन अवधि	:	मासिक
मुद्रक	:	अजय ऑफसेट, १५/सी बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८०००४
प्रकाशकका नाम	:	श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
संपादकका नाम	:	श्री राजेन्द्र जैन, (भारतीय), ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१
स्वामित्व	:	श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट, ५८० जूनी माणेकवाडी, भावनगर-३६४००१

मैं, राजेन्द्र जैन, एतद द्वारा घोषणा करता हूँ कि मेरी अधिकृत जानकारी और विश्वास अनुसार उपरोक्त विवरण सत्य है।

ता. ३१ मार्च, २०२५

राजेन्द्र जैन
मेनेजिंग ट्रस्टी-श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

'द्रव्यद्रष्टि प्रकाश'में से 'मार्गदर्शन' संबंधित पूज्य निहालचंद्रजी सोगानीजीके वचनामृत

प्रश्न :- धारणा के बिना अनुभव हो सकता है क्या ?

उत्तर :- धारणा नहीं होवे और अनुभव हो जाये, यह सवाल ही यहाँ नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि धारणा होनेपर भी (बिना पुरुषार्थ) अनुभव नहीं होता। धारणा में 'मैं चैतन्यमूर्ति हूँ' - ऐसा टाँक दो, और इसी स्थल पर जम जाओ, तब अनुभव होता है। (१८५)

*

यह बात समझ में आने पर 'करूँ.... करूँ' का बोझा तो हल्का हो जाए; परंतु इस त्रिकाली-अपरिणामीभाव का अनुभव होना - यही खास बात है; यह अनुभव करो। (२०१)

*

अपेक्षा-ज्ञान बराबर होना चाहिए, नहीं तो खतियाने में फेर हो जाता है। किस अपेक्षा से, किस बात को कितनी मर्यादा तक कहा है, उसका खयाल होना जरूरी है। (२१०)

*

झटपट मुक्ति चाहिए !.... तो बस, यहाँ (त्रिकाली में) ही बिराजमान हो जाओ। (२१८)

*

प्रश्न :- (हमको आत्मा में) स्थिरता क्यों नहीं होती ?

उत्तर :- क्षणिक (अस्थिर) परिणाम में अपनापन है, स्थिर तत्त्व को पकड़ा नहीं है, तब स्थिरता कहाँसे आए ? 'मैं अपरिणामी सदैव स्थिर ही हूँ' - ऐसे त्रिकाली -स्थिर तत्त्व में अपनापन आते ही परिणाम में स्थिरता सहज आ जाएगी, स्थिरता बढ़ेगी और पूर्णता भी हो जायेगी। पहले 'मैं त्रिकाली स्थिर तत्त्व हूँ' - ऐसी दृष्टि होनी चाहिए। (२२१)

*

प्रश्न :- वस्तु पकड़ने में नहीं आती, तो कहाँ अटकाव हो जाता है ? क्या महिमा नहीं आती है ?

उत्तर :- एक समय के परिणाम में अपनापन रहता है - बस ! यही भूल है। महिमा तो आती है, किन्तु ऊपर-ऊपर से। यदि वास्तविक महिमा आजाए तब तो छोड़े ही नहीं। वस्तु का आश्रय (आधार) पकड़ना चाहिए, उसे नहीं पकड़ता है। (२२७)

*

हम भक्तोंके तारणहार,
जीवन आधार
परम पूज्य भाईश्री शशीभाईको
उनकी सम्यक्त्व जयंती
फाल्गुन कृष्णा १३ (२७-३-२५),
के पावन अवसर पर
स्वानुभूतिप्रकाश
परिवारके
कोटि कोटि वंदन

सम्यक्जयंतीके
उपलक्ष्यमें पूज्य
भाईश्रीके
मंगल स्वहस्ताक्षरोंमें
अध्यात्म परिणामोंकी
कुछएक
सूक्ष्म एवं सुंदर बातें !!

(अनुभव संजीवनी-१५७१)

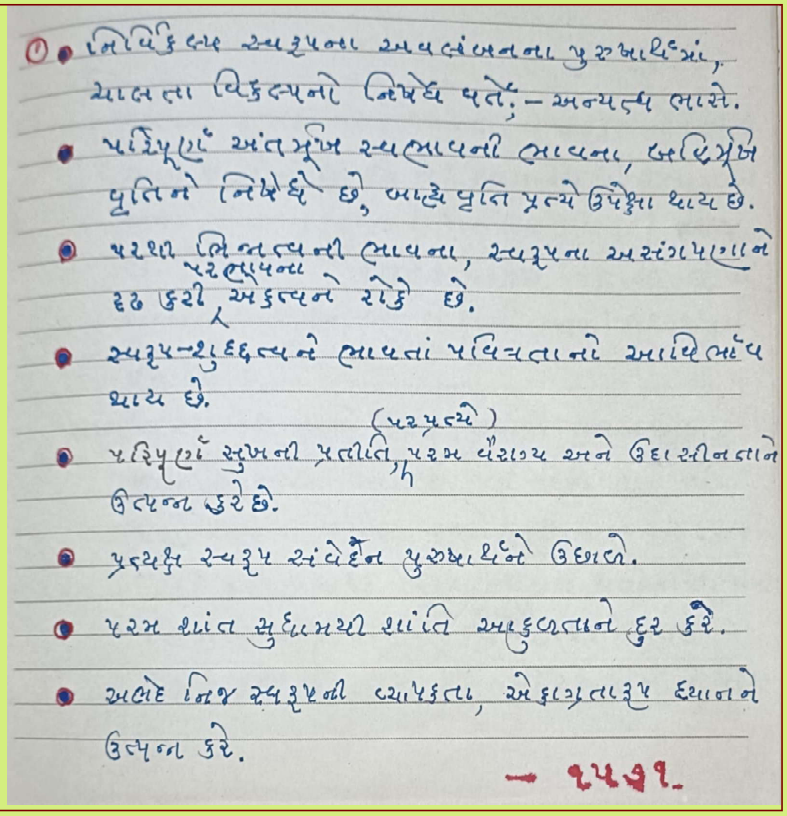

① • निर्विकल्प स्वरूपना अवलंबनना पुरुषार्थमां, भावना विकल्पनो निषेध थतें - अन्यत्व भासे.
• परिपूर्ण अंतर्मुख स्वभावनी भावना, बहिर्मुख वृत्तिने निषेधे छे, बाह्य वृत्ति प्रत्ये उपेक्षा थाय छे.
• परथी भिन्नत्वनी भावना, स्वरूपना असंगपणाने दृढ करी, अकर्तृत्वने राखे छे.
• स्वरूप-शुद्धत्वने भावतां पवित्रतानो आविर्भाव थाय छे.
• परिपूर्ण सुखनी प्रतीति, परम वैराग्य अने उदासीनताने उत्पन्न करे छे. (परप्रत्ये)
• प्रत्यक्ष स्वरूप संवेदन पुरुषार्थने उछाळे.
• परम शांत सुधामयी शांति आकुळताने दूर करे.
• अभेद निज स्वरूपनी व्यापकता, एकाग्रतारूप ध्यानने उत्पन्न करे.

- १५७१.

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 70640/97
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

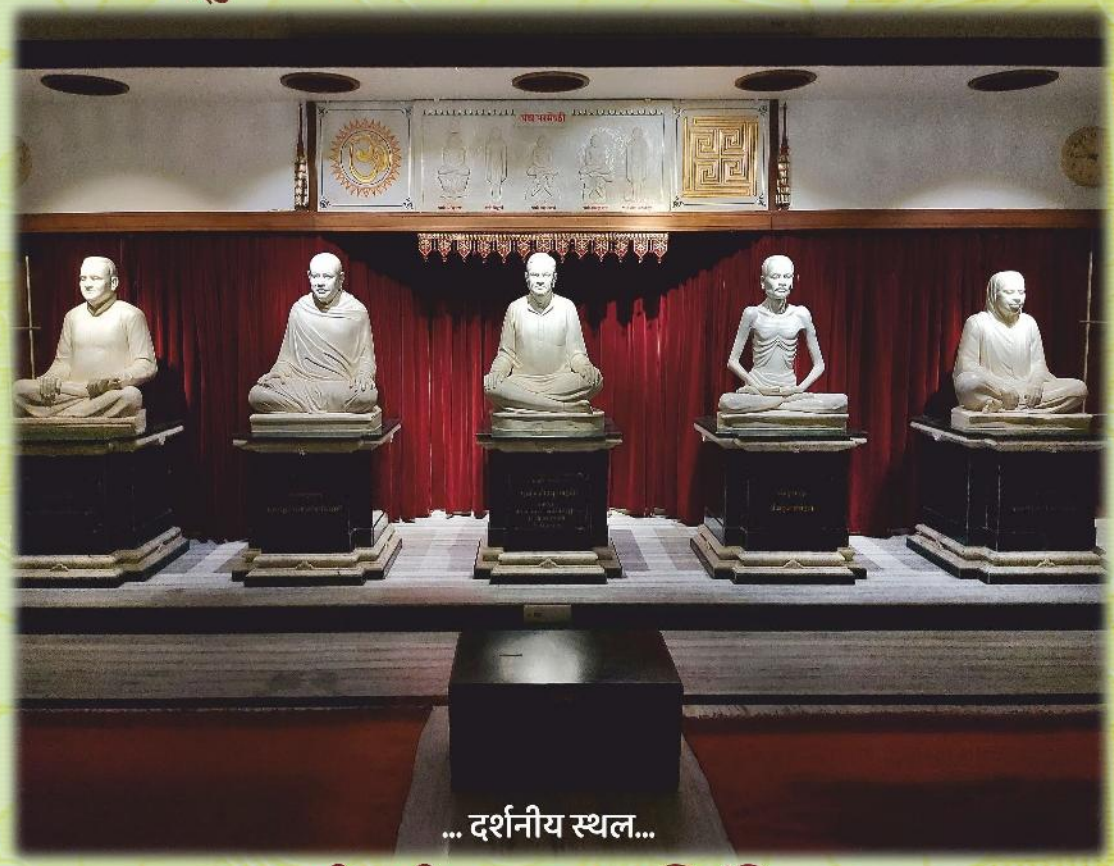

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री राजेन्द्र जैन द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर मिल कम्पाउन्ड, बारडोलपुरा, अहमदाबाद-३८० ००४ से मुद्रित एवम् ५८० जूनी माणिकवाडी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी मार्ग, भावनगर-३६४ ००१ से प्रकाशित
सम्पादक : श्री राजेन्द्र जैन -09825155066

Printed Edition : **3640**
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...

Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

postmaster 9825048041 M/s 3380001